नागरिकता की विभिन्न संस्कृतियाँ | किसका शिक्षण हो?

अमन मदान

नागरिकता से सम्बद्ध शिक्षा की विषयवस्तु और लक्ष्य क्या हों? यह कोई सादा-सरल सवाल नहीं है। इसका जवाब कई तरह से दिया जा सकता है। अलग-अलग सम्भव दृष्टिकोणों के बीच गम्भीर असहमतियाँ भी हो सकती हैं। और यह सवाल ख़तरनाक भी है। लेकिन अगर स्कूलों और शिक्षकों को अपने समयकाल में प्रासंगिक रहना है और अपने विद्यार्थियों को कुछ सार्थक, अर्थपूर्ण शिक्षा देनी है, तो उन्हें यह सवाल उठाना ही होगा।

पहली बात तो यह है कि क्या हम नागरिकता को देखने का वह संकुचित नज़रिया अपनाएँ, जिसका ध्यान इस पर केन्द्रित होगा कि राज्य के प्रति हमारा क्या व्यवहार हो - मिसाल के तौर पर, क्या बच्चे राज्य द्वारा कही गई बात का पालन करना सीखें? या फिर हम नागरिकता से सम्बद्ध एक अधिक व्यापक नज़रिया अपनाएँ, जिसके तहत इसका अर्थ केवल राज्य के प्रति हमारे व्यवहार तक सीमित न हो बल्कि सम्पूर्ण सार्वजनिक संसार के प्रति हमारे व्यवहार के बारे में हो? मिसाल के तौर पर – अपने स्थानीय आवासीय कल्याण संघ (रेज़िडेंट्स वेल्फ़ेयर असोसिएशन) में और सड़क पर हमारा व्यवहार कैसा हो; ग्लोबल वार्मिंग, साम्प्रदायिक सौहार्द आदि जैसे सार्वजनिक मुद्दों के सन्दर्भ में हमारा नज़रिया और व्यवहार कैसा हो? नागरिकता से जुड़ा यह परिप्रेक्ष्य केवल सरकार और शासन से सम्बद्ध परिप्रेक्ष्य की बनिस्बत बहुत बड़ा है। शिक्षा-क्षेत्र से जुड़े अधिकतर लोगों से अगर ज़ोर देकर पूछा जाए कि वे इनमें से नागरिकता के किस रूप को चुनेंगे, तो ज़्यादा इमकान इस बात का है कि वे अधिक व्यापक और बड़े दृष्टिकोण का चुनाव करेंगे। बच्चों को स्थानीय समुदाय का सक्रिय और ज़िम्मेदार सदस्य बनना तो सीखना ही चाहिए - और यह समुदाय केवल पंचायत या नगरपालिका तो नहीं है। यह चुनाव करना आसान है। मगर अन्य सन्दर्भों में चुनाव करना इतना आसान नहीं है।

यह लेख कुछ ऐसे परस्पर-विरोधी विचारों के बारे में है जिनसे मेरा सामना क़रीब दो दशक पहले मध्य भारत के एक तालुका में हुआ था (मदान 2003, 2005)। सार्वजनिक संसार में कैसा व्यवहार हो, इससे सम्बद्ध ये विचार अब भी परेशान करते हैं। मैं तब एकलव्य संस्था में काम करता था और होशंगाबाद, मध्य प्रदेश में रहता था जहाँ मेरा निवास तीन साल तक रहा। यहीं पर ठिकाना बनाते हुए हमने मानव जाति विज्ञान पर आधारित स्थानीय अध्ययन किया। होशंगाबाद और उसके निकट के तीन गाँवों का यह अध्ययन आचार-व्यवहार, धारणाओं, मान्यताओं, संस्कारों आदि के रूप में प्रतिबिम्बित नागरिकता की संस्कृतियों से सम्बद्ध था। हम यहाँ पुस्तकालय भी चलाते थे। देखने में आया कि सार्वजनिक क्षेत्र में जीवन के प्रति विभिन्न सम्भावित नज़रियों और रवैयों को लेकर गहरे विभाजन थे। इसी तरह, स्कूलों में नागरिकता की शिक्षा का मुद्दा भी अलग-अलग सम्भव पथों में विभाजित दिखाई देता है। वहाँ किस तरह की नागरिकता की शिक्षा दी जाए, इस बारे में हमें अलग-अलग सम्भावित पथों में से एक को चुनना होता है।

विवेकशील और समतावादी संविधान

नागरिकता को लेकर विभाजन रेखा के एक ओर बी.आर. अम्बेडकर की अगुवाई में समिति द्वारा लिखा गया भारतीय संविधान है। हमारा संविधान वह बुनियादी ढाँचा प्रदान करता है जिसका पालन उपनिवेशीय शासन के बाद के भारतीय राज्य ने किया। इतना ही नहीं, यह सार्वजनिक जीवन में किए जाने वाले व्यवहार से सम्बद्ध उस संस्कृति और आचार-संहिता की भी शानदार मिसाल है जिसका प्रतिनिधित्व हमारा आज़ादी का संघर्ष करता था। हमारे संविधान के मूल में मौजूद संस्कृति और मूल्यों ने बहुत से व्यक्तियों, ग़ैर-सरकारी संस्थाओं, सरकार और निजी कम्पनियों की गतिविधियों को प्रभावित किया है। उनके केन्द्र में यह विचार है कि सभी इन्सान एक समान हैं और हमें एक गहरे स्तर पर हर इन्सान को समान रूप से देखना चाहिए। समता का यह विचार पश्चिमी लोकतंत्रों के विकास से और उपनिषदों के कुछ हिस्सों, इस्लाम, सिख तथा बौद्ध धर्मों एवं अन्य सशक्त सांस्कृतिक प्रभावों से भी उपजा है। इस तहज़ीब का मानना है कि इस मुल्क के सभी लोग अन्ततः एक समान ही हैं। सामाजिक स्तर पर उन्हें प्रदान की गई पहचानों - जैसे कि उनका धर्म, जाति और लिंग – का असल में कुछ महत्त्व नहीं है।

> सरकार द्वारा किसी गाँव में खोला गया प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र सबके लिए होता है और यह मानकर चला जाता है कि यहाँ आने वाले किसी भी व्यक्ति के साथ उसकी सामाजिक पहचान के आधार पर कोई भेदभाव नहीं होगा। इस केन्द्र पर इलाज के लिए आए किसी भी इन्सान की जाति, धर्म और लिंग को कुछ भी महत्त्व नहीं दिया जाना

चाहिए। एक ही तरह का भेदभाव स्वीकृत होगा - कमज़ोर की मदद के लिए किया गया सकारात्मक भेदभाव। मिसाल के तौर पर, जब सरकार हैण्डपम्प लगाती है तो निर्देश दिए जाते हैं कि पहले ये उन मुहल्लों में लगाए जाएँ जहाँ अब से पहले एक भी हैण्डपम्प नहीं है। इसके अलावा यह निर्देश भी हो सकता है कि ये अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के मुहल्लों में लगाए जाएँ क्योंकि इनके पास कुओं और हैण्डपम्प के लिए आमतौर पर संसाधन नहीं होते। ज़ाहिर तौर पर यह अपवाद लग सकता है मगर फिर भी इसके पीछे की भावना यही है कि सब बराबर हों। समता का तक़ाज़ा यह है कि जिनके पास संसाधन नहीं हैं, उन्हें बाक़ियों के साथ बराबरी के स्तर पर लाया जाए।

बाज़ारों में हुई वृद्धि और दूर-दराज़ इलाक़ों तक भारतीय राज्य की पहुँच और पैठ की वजह से विवेकशीलता और समता की संस्कृति को कई जगह बहुत बढ़ावा मिला है, जिनमें होशंगाबाद भी शामिल है। यह मानते हुए कि विवेकशीलता और समता की इस संस्कृति के तहत सब एक समान हैं, सच यह भी है कि बाज़ार और भारतीय राज्य की पहुँच के चलते कई जगह व्यवहार में ग़ैर-बराबरी बढ़ रही है। लेकिन फ़िलहाल मैं इस सवाल को अलग रख रहा हूँ। असल बात यह है कि ऐसे क्षेत्र में, जहाँ जाति और लिंग से सम्बद्ध ग़ैर-बराबरी बहुत गहरी जड़ें लिए हुए है, बाज़ार तथा राज्य इस रूप में महत्त्वपूर्ण संस्थाएँ हैं कि ये अधिक अन्तर-सम्बद्ध संस्कृतियों और सोचने के तौर-तरीक़ों को बढ़ावा देती हैं। इनके विकास से विवेकशीलता और सार्वभौमिकता तथा सर्वहित की भावना को विस्तार मिला है, फिर चाहे मौजूदा ग़ैर-बराबरी की वजह से यह अक्सर कमज़ोर पड़ जाती है। जब हम अपने देश में विशाल स्तर पर हो रहे सामाजिक परिवर्तन को देखते हैं तो लगता है कि नागरिकता की शिक्षा प्रदान करने का अर्थ होगा बराबरी, विवेकशीलता, सार्वभौमिकता, स्वतंत्रता आदि की संस्कृति की शिक्षा देना, और ये सभी मूल्य हमारे संविधान में स्थापित हैं।

समानता नहीं, दबदबा

संविधान और ऊपर ज़िक्र में आई धार्मिक धाराएँ मानवता के एक होने की बात करते हैं लेकिन इनका सामना समाज की ऐसी सच्चाई से है जो समानता को अस्वीकार करती है और नकारती है। जब मैं होशंगाबाद में था, तो वहाँ जाति व्यवस्था मज़बूत थी। अन्तर्जातीय विवाह दुर्लभ थे। जाति व्यवस्था का आधार समानता नहीं, असमानता के मूल सिद्धान्त में होता है। यह व्यवस्था मानती है कि अलग-अलग सामाजिक समूहों के लिए अलग-अलग नियम होने चाहिए - सभी के लिए एक से नियम नहीं होने चाहिए। यह मान्यता भी है कि कुछ लोग अन्य के मुक़ाबले अधिक आदर और संसाधनों के अधिकारी हैं। जानकारी के आधार पर कहा जा सकता है कि अब भी बहुत कुछ नहीं बदला है।

उच्च जातियों का मज़बूत विश्वास था कि वे ही श्रेष्ठ हैं। उनके विश्वास को इस बात से भी समर्थन मिला कि वे इस मूलत: कृषि आधारित इलाक़े के सबसे बड़े भू-स्वामी भी थे। सरकारी कर्मचारियों में भी सबसे बड़ी संख्या उन्हीं की थी क्योंकि शिक्षा प्राप्त करने का मौक़ा भी पहले उन्हें ही मिला था। वे बड़े-से-बड़े व्यापारों को और अधिकतर राजनैतिक ओहदों को भी नियंत्रित करते थे। मिसाल के तौर पर, एक विशेष ब्राह्मण परिवार था जो एक हज़ार एकड़ से अधिक ज़मीन का मालिक था। इस परिवार का एक सदस्य स्थानीय लोकसभा सीट से प्रत्याशी रह चुका था, दूसरा एमएलए था, तीसरा ज़िला परिषद का मुखिया और चौथा मध्य प्रदेश सरकार का मुख्य सचिव था। सार्वजनिक सत्ता प्रमुख रूप से पुरुषों के हाथ थी और आधिकारिक ओहदों पर जो चन्द महिलाएँ थीं उनकी हँसी उड़ाई जाती थी। निम्न-स्तरीय अन्य पिछड़ी जातियाँ धीरे-धीरे उभर रही थीं और अपनी संख्या के बल पर एक राजनैतिक ताक़त के तौर पर संगठित होने की कोशिश में थीं। लेकिन उच्च जातियों की पैठ बहुत मज़बूत और गहरी थी जिनसे इन जातियों को दो-चार होना पड़ता था।

जाति की संस्कृति सामाजिक जीवन के कई कोनों तक फैली थी। मांस के सेवन को सार्वजनिक तौर पर नीची नज़र से देखा जाता था। किसी अजनबी से मुलाक़ात होने पर अगर उसके उपनाम से उसकी जाति के बारे में कुछ पता न चले तो सबसे पहले यही जानकारी ली जाती थी। नगर के 'उच्च' जातियों के मुहल्लों में मुसलमानों के लिए और 'उच्च' जातियों से इतर जाति के लोगों के लिए किराए पर मकान मिल पाना बहुत मुश्किल था। संविधान की भावना यहाँ जाति और वर्ग की व्यवस्था द्वारा कुचल दी गई थी। सार्वजनिक जीवन की संस्कृति अपने से श्रेष्ठ सामाजिक रुतबे वालों के प्रति सम्मान की और कम सामाजिक रुतबे वालों पर दबदबे और हावी रहने की थी।

सत्ता और राजनीति की संरचना का रूप-आकार जाति, धन-दौलत और व्यवसाय पर टिका था। सरकार के कर्मचारियों, ख़ासतौर से कलेक्टरेट के अधिकारियों को सभी का सम्मान मिलता था। राजनीतिज्ञों और ठेकेदारों का एक समूह स्थानीय राज्य सरकार के कर्मचारियों के साथ बहुत निकटता से इस तरह काम करता था जिससे उन्हें फ़ायदा हो। संविधान के आदर्श अप्रासंगिक हो गए थे। लोग सरकारी तंत्र में इसलिए भर्ती होते या उसके साथ काम करते थे क्योंकि यह सत्ता के समीप जाने का एक क़दम था - न कि इसलिए कि वे सबके

लिए समता, न्याय या निष्पक्षता चाहते थे। सरकारी नौकरी का पीछा इसलिए नहीं किया जाता था कि यह समानता क़ायम करने और सबके लिए न्याय मुहैया करवाने का तरीक़ा था बल्कि इसलिए, कि नौकरी मिलने के बाद आप को 'अधिक परिश्रम नहीं करना होगा'।

अधिकतर सार्वजनिक गतिविधियाँ लिंग, जाति और समाज में बनाए नेटवर्क के आधार पर होती थीं। अपने काम करवाने हों, तो इन नेटवर्क का पोषण ज़रूरी था। इन्हीं के माध्यम से आप पैसे और ओहदे का इस्तेमाल करते हुए बहला-फुसला कर, घूस देकर या धमकी देकर अपने लक्ष्यों तक पहुँच सकते थे। यह मूल रूप से पुरुषों के नेटवर्क के माध्यम से किया जाता था – महिलाओं को इनसे साफ़तौर पर बाहर रखा जाता था। सत्ताधिकार में भिन्नताएँ तथा आदर-सम्मान के श्रेणीबद्ध अनुक्रम सबको साफ़तौर पर दिखाई देते थे। सामाजिक जीवन तबक़ों में बँटा था और व्यक्ति अपने तबक़े के लिए काम करता था न कि संविधान द्वारा अनुशंसित सार्वभौमिक बेहतरी के लिए। जब किसी पंचायत को गाँव की सड़कों की बेहतरी के लिए पैसा मिलता था, तो पहले सरपंच के घर के आगे की सड़क या उसके जाति के लोगों के मुहल्ले की सड़क को ठीक किया जाता था।

समाज के इस स्वरूप से लोग नाख़ुश थे और इसका व्यापक विरोध भी था। सरकार में अविश्वास और निराशावाद व्यापक स्तर पर मौजूद था। सामाजिक पायदान के नीचे के स्तरों पर मौजूद लोग, जिनमें युवा, महिलाएँ, दलित, आदिवासी तथा निम्न स्तर पर स्थित अन्य पिछड़ी जातियों के लोग शामिल थे, मुझसे स्वतंत्रता और समानता के बारे में सबसे अधिक जज़्बे के साथ बात करते थे। लेकिन आप कर क्या सकते थे? न्याय और निष्पक्षता पर आधारित सार्वजनिक जीवन की वैकल्पिक दृष्टि के अभाव में उदासीन हो जाना और किसी तरह इस व्यवस्था के साथ काम करने की कोशिश करते रहना स्वाभाविक-सा हो गया था।

स्थानीय श्रेणीबद्ध व्यवस्था को बनाए रखने में भय, उदासीनता और सांस्कृतिक प्रतीक-चिह्नों का इस्तेमाल किया जाता था। ठेकेदारों, राजनीतिज्ञों और सरकारी अधिकारियों के बीच साँठ-गाँठ को उजागर करने की कोशिश कर रहे पत्रकारों के साथ मार-पीट की जाती थी। ताक़तवर लोगों को असहमति नागवार थी। उन्हें लगता था कि उनसे किसी भी तरह की असहमति राजनीतिक विरोध का प्रतीक थी और इससे उन्हें सार्वजनिक स्तर पर बेइज़्ज़ती का सामना करना पड़ सकता था। असहमति जताने वालों को सरदर्द माना जाता था और उन्हें किसी भी तरह चुप करवाना ज़रूरी समझा जाता था। स्थानीय वार्ड सदस्य से सार्वजनिक तौर पर सवाल किए जाने का अर्थ था कि जब तक वह व्यक्ति सत्ता में था, तब तक आप सरकार की ओर से किसी भी काम में मदद की उम्मीद नहीं रख सकते थे। वह आपके सभी प्रस्तावों का जमकर विरोध ही करेगा या (दुर्लभ हालात में) करेगी, फिर चाहे आपके प्रस्ताव कितने ही बढ़िया क्यों न हों। सभी धार्मिक और सांस्कृतिक त्यौहारों पर ताक़तवर लोगों को सम्मानित करना और उनकी इज़्ज़त करना एक महत्त्वपूर्ण एजेण्डा रहता था। जैसा कि एकलव्य को बड़ी क़ीमत चुका कर समझ में आया, कि विभिन्न सार्वजनिक मौक़ों पर उन्हें सम्मानित न करने का अर्थ था कि आपको घमण्डी समझा जाएगा और आपको आपकी जगह दिखा दी जाएगी। ताक़तवर लोगों के दाएँ बाज़ू रहना हमेशा ही बहुत महत्त्वपूर्ण था।

मैंने बहुत लोगों से पूछा कि वे और उन जैसे ही अन्य कई लोग सार्वजनिक, सामुदायिक काम क्यों करते थे? वे पानी का कुआँ खोदने में या कोई धार्मिक त्यौहार मनाने में या किसी अच्छे कार्य के लिए चन्दा देकर मदद क्यों करते थे? लगभग हमेशा यह जवाब मिलता था - ऐसा वे इसलिए करते थे ताकि वे उस कार्य को अंजाम देने वाले अग्रणी व्यक्ति की नज़रों में आ पाएँ या उसकी बुरी नज़र से बचे रह पाएँ। यह कम ही होता था कि कोई अच्छा काम सिर्फ़ इसलिए किया जा रहा हो कि वह अच्छा है। आगे चलकर हम इस बारे में और अधिक बात करेंगे।

इस संस्कृति में तथा दूसरी ओर संविधान के पीछे की संस्कृति में घोर अन्तर है। संविधान की संस्कृति का बल इस बात पर है कि सरकार की गतिविधियाँ समानता और न्याय जैसे सार्वभौमिक मूल्यों की सेवा में हों। इसलिए, राज्य द्वारा बनाए जाने वाले नियम दलित मुहल्ले में हैण्डपम्प के लिए धन के आवटंन जैसी गतिविधियों और कार्यों की तर्ज़ पर होंगे। लेकिन ऐसे कार्यों में सम्मिलित लोग इस बात को बिल्कुल सामान्य मानते थे कि वे इसमें से अपने लिए फ़ायदा उठा सकें। मिसाल के तौर पर, अपना लाभ ऐंठने के लिए वे काम में रोड़ा अटकाते या उसमें देरी करते थे। काम करवाने के लिए उन तक पहुँच बनानी पड़ती थी और यह उनकी जाति के लोगों के माध्यम से या अन्य सम्पर्कों के ज़रिए किया जाता था। हैण्डपम्प के लगने से पहले, अलग-अलग स्तर पर 20 से 30 प्रतिशत 'कट' या 'कमिशन' उन तक पहुँचाया जाना तो सामान्य बात थी।

इन दो तरह की संस्कृतियों के बीच का टकराव कई स्तरों पर काम करता था। एकलव्य के सामाजिक-अध्ययन शिक्षण कार्यक्रम की पाठ्यपुस्तकों में संविधान द्वारा सभी जन के लिए सुनिश्चित किए गए अधिकारों के बारे में उत्साहपूर्वक पढ़ाया जाता था। इतनी ही शिद्दत के साथ यह भी पढ़ाया जाता था कि अपने अधिकारों को बचाए रखने के लिए हम क्या कुछ कर सकते हैं। इस शिक्षण कार्यक्रम प्रोग्राम से सम्बद्ध सरकारी स्कूलों के शिक्षकों पर इन पाठ्यपुस्तकों का गहरा प्रभाव पड़ता

था। लेकिन फिर भी, इनमें से कुछ का कहना था, "अगर हम इन पाठ्यपुस्तकों को ज्यों-का-त्यों पढ़ाते हैं तो अगले ही दिन सरपंच के लठैत स्कूल में आ खड़े होंगे।" वे पाठ्यपुस्तक के उन हिस्सों को उजागर किए बिना काम चलाते थे, जिन्हें पढ़ाने से उत्पन्न होने वाले नतीजों से वे डरते थे।

समुदाय प्रेम

एक ओर संविधान की विवेकशील समानता और न्याय की बात थी तो दूसरी ओर सार्वजनिक क्षेत्र में स्थानीय जीवन के तौर-तरीक़े थे – इन दोनों के बीच बहुत बड़ी खाई थी। लेकिन सार्वजनिक जीवन के स्थानीय तौर-तरीक़ों में अन्य ध्वनियाँ भी थीं। सार्वजनिक स्थानों पर लोगों का व्यवहार एक ख़ास तरह का ही क्यों होता था और वे कौन थे जिन्हें शान्त-सन्तुष्ट रखने की कोशिश की जाती थी, इन बातों के बारे में पूछताछ करते हुए मैं कई अपवादों तक पहुँचा। इनमें से एक, अन्य पिछड़ी जातियों का व्यक्ति था जिसने नर्मदा नदी के किनारे घाट-निर्माण के काम की अगुवाई की थी। यहाँ के निवासी सभी धर्मों से सम्बद्ध लोगों के सांस्कृतिक जीवन में इस नदी का एक विशेष स्थान है। स्थानीय विश्वास के मुताबिक़ नर्मदा इतनी पवित्र है कि उसे देखने भर से आप पापमुक्त हो जाते हैं। लोग इस स्थानीय मान्यता के बारे में बहुत ख़ुशी से बताते ही नहीं, बारम्बार इसका ज़िक्र करते हैं। वे इस बात की ओर भी ध्यान दिलाते हैं कि इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आप को गंगा स्नान के लिए जाना पड़ता है – दूसरे शब्दों में कहें तो नर्मदा के रहते उन्हें गंगा स्नान की ज़रूरत नहीं है।

नदी के किनारे-किनारे कुछ स्थानों पर बने इन घाटों के लिए या तो अमीर लोगों ने चन्दा दिया है या फिर ये उन राजनीतिज्ञों के प्रभाव से बने हैं जो यह दिखाना चाहते हैं कि वे कितने अच्छे हैं, जबकि वे निर्माण-सामग्री में से 20 प्रतिशत धन अपनी जेब में डाल रहे होते हैं। लेकिन जिस घाट की बात मैं साझा करना चाहता हूँ, वह एक ऐसे पूर्व नशेड़ी के नेतृत्व में बना था जो कभी किसी काम का नहीं रहा था। उसने मुझे जो कहानी सुनाई उसके मुताबिक़ वह और उसके नशाख़ोर दोस्त नदी किनारे के एक मोड़ पर बैठ नशा किया करते थे। पानी में कई गोल चट्टानें बिखरी रहती थीं। एक दिन उन्होंने एक दलित महिला को महज़ इसलिए डाँट खाते देखा कि वह स्नान के लिए वहाँ आई एक उच्च जाति महिला के रास्ते में आ गई थी। दलित महिला को अपने लिए किसी स्थान का चुनाव करने के लिए चट्टानों के ऊपर से जाते हुए काफ़ी दिक़्क़त पेश आ रही थी। इस पर उन नशाख़ोरों ने एक दिन तय करके उन चट्टानों को थोड़ा व्यवस्थित कर दिया। फिर अगले दिन थोड़ा और, उसके अगले दिन और करते-करते कई दिन लगाए। धीरे-धीरे लोगों को उनके इस काम के बारे में जानकारी मिली और वे उनकी मदद के लिए आने लगे। किसी ने एक कट्टा सीमेंट दिया, तो किसी और ने उसका घोल बना कर लगाने में मदद की। कुछ मुसलमान भी सहयोग के लिए आगे आए। इन लोगों को मदद देने से किसी को कोई लाभ नहीं होने वाला था, न ही वे किसी को कुछ नुक़सान पहुँचा सकते थे। फिर भी, वह घाट बना और यह काम करते-करते उन नशाख़ोरों ने नशा करना भी छोड़ दिया।

यहाँ सार्वजनिक, साझा बेहतरी की भावना काम कर रही थी। लोग नि:स्वार्थ काम करने को प्रेरित हुए और अन्य लोगों ने भी उसे नि:स्वार्थ भावना से आगे बढ़ाने में सहयोग दिया। यह इसलिए मुमकिन हो पाया क्योंकि यह एक छोटा समुदाय था। बात जल्दी ही फैल गई। सब वहाँ आते थे और हो रहे काम को देखते थे। इस सार्वजनिक, जनहित-कार्य के केन्द्र में प्रेम था। योगदान देने वालों का कहना था कि वे यह सब कुछ नदी के लिए प्रेम के तहत कर रहे थे; घाट बनाने के विचार से प्रेरित होकर और उस समर्पण भाव के लिए कर रहे थे, जो सबके सामने साकार था। यह संविधान की विवेकशील समानता जैसी बात तो नहीं थी लेकिन यह जाति और वर्ग की श्रेणीबद्ध सत्ता-संरचना भी नहीं है। सामुदायिक प्रेम की संस्कृति उन विभाजनों का ही एक और पहलू है जिनके इर्द-गिर्द हम एक ख़ास तरह की नागरिकता बच्चों को सिखाना चाहते हैं।

निष्कर्ष

जिस तरह की नागरिकता हम अपने बच्चों को सिखाना चाहते हैं, उसकी बात शून्य में नहीं हो सकती। बच्चे कोरी स्लेट की तरह स्कूल में नहीं आते। वे एक ऐसी जटिल संस्कृति का हिस्सा हैं जिसमें कई तरह के धागे एक-दूसरे के साथ गुँथे हुए हैं। नागरिक मामलों के बारे में बच्चों के ज्ञान से सम्बद्ध अलेक्स एम. जॉर्ज के अध्ययन (2004) से स्पष्ट होता है कि प्राथमिक स्कूल के बच्चे इस बात को भली-भाँति जानते थे कि निकट भविष्य में होने वाले चुनावों के लिए पैसे की ताक़त का इस्तेमाल किया जा रहा है और पंचायत में कौन कितनी रिश्वत ले रहा है। नागरिकता के मॉडल के रूप में हम उनकी संस्कृति में मौजूद इन तीन सूत्रों में से किसे चुनना चाहेंगे – सार्वभौमिक समानता; पितृसत्तात्मक वर्गीय-जातीय व्यवस्था के अन्तर्गत बचाव की युक्ति; या फिर समुदाय में अच्छाई-भलाई के प्रति प्रेम? अन्य लोग शायद अन्य विकल्प चुनें लेकिन मैं हमारे संविधान की संस्कृति को बढ़ावा दूँगा और इसका मिलाप हमारे इर्द-गिर्द मौजूद नि:स्वार्थ अच्छाई के साथ करूँगा।

इसका शिक्षण कैसे हो, यह एक लम्बी और अलग कहानी है। यहाँ मैं इतना भर कहना चाहूँगा कि यह शिक्षण विद्यार्थियों के अपने जीवन-अनुभवों के यथार्थ को अनदेखा करके नहीं हो सकता। अगर हम इस यथार्थ की उपेक्षा करते हैं तो वे कक्षा के भीतर और बाहर के अन्तर की बात करेंगे – वे कहेंगे कि

हाँ, कक्षा में तो ऐसा किया जाता है लेकिन कक्षा के बाहर तो कुछ और होता है! स्कूलों में इस बारे में बात शुरू होनी चाहिए कि हमारे संसार में असल में क्या हो रहा है और क्यों हमें उसके बारे में चिन्तित होना चाहिए। अधिकतर स्कूलों और पाठ्यपुस्तकों को इस बाबत बात करने में परेशानी महसूस होती है – ऐसा करना उन्हें ख़तरनाक भी लगता है। लेकिन जब हम जातिवाद, वर्गीय असमानता और पितृसत्ता के बारे में बात करना शुरू करेंगे तभी विद्यार्थी यह देखना शुरू करेंगे कि क्यों संविधान की संस्कृति हमें इनसे निपटने का रास्ता दिखाती है। ज़रूरत है कि स्कूल इस बात पर चर्चा शुरू करें कि शोषण और दमन असल में कैसे होता है। यह एक ऐसी संस्कृति को रचने का पहला क़दम होगा जिसके चलते मौजूदा संस्कृति में बदलाव आएगा। आज़ादी के संघर्ष ने स्वतंत्रता को बस सामाजिक परिवर्तन की शुरुआत के रूप में देखा था। स्कूलों की ज़िम्मेदारी है कि वे इस सामाजिक परिवर्तन को लाने की प्रक्रिया में अपनी भूमिका निभाएँ।

References

George, Alex M. 2004. *Children's Perception of Sarkar: The Fallacies of Civics Teaching.* Contemporary Education Dialogue 1 (2): 228–57.

Madan, Amman. 2003. *Old and New Dilemmas in Indian Civic Education*, Economic and Political Weekly 38 (44): 4655–60.

Madan, Amman. 2005. *Between Love, Domination and Reason: Civic Education and Its 'Others' in Central India*, Contemporary Education Dialogue 2 (2): 170–92.

अमन मदान ने पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ से मानव-विज्ञान (ऐंथ्रोपॉलजी) का और जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली से समाजशास्त्र का अध्ययन किया। वे अज़ीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी में पढ़ाते हैं। इन दिनों शिक्षा एवं सामाजिक असमानता पर एक किताब लिखने की प्रक्रिया में हैं। हाल ही में उनकी पुस्तक एजुकेशन एंड मॉडर्निटी (शिक्षा और आधुनिकता) एकलव्य, भोपाल से प्रकाशित हुई है। उनसे amman.madan@apu.edu.in पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद :** रमणीक मोहन